वर्ष-6 अंक-3 जुलाई - सितम्बर, 2016 मूल्य - ₹25

हिन्दी काव्य की संग्रहणीय त्रैमासिक पत्रिका

पारस परस

गया प्रसाद शुक्ल सनेही

जन्म- 21 अगस्त 1883 निधन-20 मई 1972

किसी को नहीं बनाया दास,
किसी का किया नहीं उपहास।
किसी का छीना नहीं निवास,
किसी को दिया नहीं है त्रास।
किया है दुखित जनों का त्राण,
हाथ में लेकर कठिन कृपाण ।।
वही हम हैं भारत संतान-वही हम हैं भारत संतान।।

वर्ष : 6 अंक : 3 जुलाई-सितम्बर, 2016 रजि. नं. : यूपी एचआईएन/2011/39939

पारस परस

हिन्दी काव्य की समस्त विधाओं की संग्रहणीय त्रैमासिक पत्रिका

संरक्षक मंडल
डा. एल.पी. पाण्डेय
अभिमन्यु कुमार पाठक
अरुण कुमार पाठक

संपादक
डॉ अनिल कुमार

कार्यकारी संपादक
सुशील कुमार अवस्थी

संपादकीय कार्यालय
538 क/1324, शिवलोक
त्रिवेणी नगर तृतीय, लखनऊ
मो. 9935930783
Email: paarasparas.lucknow@gmail.com

लेआउट एवं टाइप सेटिंग
अभ्युदय प्रकाशन प्रा.लि.
लखनऊ
मो. 9696433312

स्वामी प्रकाशक मुद्रक एवं संपादक डा. अनिल कुमार द्वारा प्रकाश पैकेजर्स, 257, गोलागंज, लखनऊ से मुद्रित कराकर सी-49, बटलर पैलेस कालोनी, जापलिंग रोड, लखनऊ से प्रकाशित

पारस परस में प्रकाशित रचनाओं में व्यक्त विचार संबंधित रचनाकारों के हैं। संपादक अथवा प्रकाशक का रचनाओं में व्यक्त विचारों से सहमत होना आवश्यक नहीं है। पत्रिका से संबंधित सभी विवाद लखनऊ न्यायालय के अधीन होंगे। उपरोक्त सभी पद मानद एवं अवैतनिक हैं।

अनुक्रमणिका

सम्पादकीय

जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी		2

श्रद्धासुमन

बाबू जी तेरे ही गम में	डा. अनिल कुमार पाठक	4

कालजयी

भावों की मधुलहरी	पारस नाथ पाठक 'प्रसून'	5
प्रभात	गया प्रसाद शुक्ल 'सनेही'	6
सागर के उस पार	गया प्रसाद शुक्ल 'सनेही'	7
यात्री	सियाराम शरण गुप्त	8
हिमालय	श्याम नारायण पाण्डेय	9

समय के सारथी

मेरे देश के हित जो साथी	राकेश चक्र	11
रंग	मधुकर उपाध्याय	12
इस भीड़ में	कल्लोल चक्रवर्ती	13
दीपकों को भी न भूलो	परमानंद जड़िया	14
हम	तेजराम शर्मा	15
धूसर मिट्टी की जोत में	लक्ष्मीकांत मुकुल	16
आरती सा जल रहा हूँ	हृदयानन्द तिवारी 'कुमारेश'	17
पावन कर दो, मेरी कुटिया	श्रीराम श्रीवास्तव कमलेश	18
खण्डहर	गया प्रसाद तिवारी 'मानस'	19
युद्ध का हिसाब	कृष्ण प्रताप सिंह	20
एक तिरंगा भाषा एक रहे	वीरेन्द्र अंशुमाली	21

कलरव

कोयल	सुभद्रा कुमारी चौहान	22
यह कदम्ब का पेड़	सुभद्रा कुमारी चौहान	23
चूहे की दिल्ली यात्रा	रामधारी सिंह दिनकर	24

नारीस्वर

ऐसा है देश मेरा	पायल कुमारी भारतीय	25
नायिका	अर्चना झा	26
जिन्दगी	उर्मिला सिंह	27
एक लता की तृष्णा	संगीता निगम	28
आत्मकथा	राजी सेठ	29
हीरन को हार	डा शान्तिदेव बाला	30
चिन्दियाँ	ऊषा चौधरी	31
सहमी खड़ी है, घास	डा. नीलम जैन	32
वन्दना	डा. महाश्वेता चतुर्वेदी	33
सत्य-प्रेम	डा. ऋचा शर्मा	34
नेह बँधाये राखी	उमा श्री	35

नवोदित रचनाकार

कलम का सिपाही	गोविन्द कुमार सिंह	36
निर्जन सूना संसार मुझे	देव शर्मा	37
गीत	राजेन्द्र तिवारी	38
घरवाली बाहर वाली	ताराचन्द्र तन्हा	39
साँझ ढलने का भी क्रम बदल जायगा-कमलाकान्त शरण'पंकज'		40

जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी

बचपन में जब मैं कुछ समझदार हुआ तभी से एक श्लोक विभिन्न अवसरों पर विशेषतया स्वतंत्रता दिवस तथा गणतंत्र दिवस जैसे राष्ट्रीय पर्वों पर होने वाले समारोहों एवं आयोजनों में विभिन्न व्यक्तियों के सम्बोधनों में सुनने को मिलता रहा –

"अपि स्वर्णमयी लंका न मे लक्ष्मण रोचते।
जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी।।"

मुझे यह तो याद नहीं है कि उक्त श्लोक किसके द्वारा विरचित है तथा किस ग्रन्थ से सम्बन्धित है लेकिन इससे यह ध्वनित होता है कि कदाचित् इसमें श्रीराम द्वारा लक्ष्मण जी को सम्बोधित करते हुए कहा गया है कि यद्यपि लंका सोने की है फिर भी मुझे (श्री राम को) अच्छी नहीं लग रही है क्योंकि जननी एवं जन्मभूमि स्वर्ग से भी बढ़कर हैं। तात्पर्य यह है कि जननी एवं जन्मभूमि की महत्ता क्रमशः अन्य किसी सम्बन्ध या स्थान से अधिक है। यहाँ मैं जन्मभूमि के सन्दर्भ में स्वयं को सीमित रखते हुये अपनी बात बढ़ा रहा हूँ।

कोई भी स्थान भले ही जन्मभूमि की तुलना में भौतिक सुख–समृद्धि की दृष्टि से अधिक विकसित हो अथवा स्वर्गोत्तम एवं स्वर्णिम ही क्यों न हो वह जन्मभूमि का स्थान कदापि नहीं ले सकता। इस प्रकार की उदात्त भावनाएँ हमारी संस्कृति एवं परम्परा में तो प्राप्त होती ही हैं, हमारे साहित्य भी इन भावनाओं से ओत–प्रोत हैं। जन्मभूमि व स्वदेश के प्रति इन्हीं आत्मीय भावनाओं के कारण ही हमारा स्वाभिमान जाग्रत रहता है।

यदि हम भारतवर्ष के प्राचीन इतिहास से लेकर वर्तमान तक के विभिन्न घटनाक्रमों पर दृष्टिपात करें तो यह स्पष्ट होता है कि देशप्रेम की भावनाओं ने ही इस देश को विभिन्न संकटों से उबारा है। यद्यपि मेरा उद्देश्य एवं आशय किसी प्रकार से भी भारतीय इतिहास की विभिन्न घटनाओं का विश्लेषण करना नहीं है फिर भी यह कहना अत्यन्त प्रासंगिक है कि इस देश की सुख–समृद्धि एवं सम्पन्नता पर सदैव वैदेशिकों की कुदृष्टि रही और विभिन्न कारणों से समय–समय पर उनके द्वारा यहाँ के शासन तंत्र का नियंत्रण भी प्राप्त कर लिया गया और तदुपरान्त इस देश के ऐश्वर्य व महत्ता को तिरोहित करने का भी प्रयास किया गया।

आधुनिक काल में विशेषकर 1857 के स्वतंत्रता आंदोलन के पश्चात्, देश में जिस राष्ट्रीय चेतना का उदय हुआ उसने धीरे–धीरे सम्पूर्ण भारत को एक सूत्र में जोड़ा। जहाँ इस राष्ट्रीय चेतना के विकास व उसके प्रसार में देश की विभिन्न भाषाओं का महत्वपूर्ण योगदान रहा वहीं इसमें हिन्दी भाषा की भूमिका अग्रणी रही। यदि यह कहा जाय कि हिन्दी भाषा द्वारा इसे नेतृत्व प्रदान किया गया, तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। राष्ट्रीय चेतना के साथ ही राजनैतिक व सामाजिक पुनर्जागरण की दिशा में भी हिन्दी भाषा के साहित्य विशेष रूप से काव्य रचना द्वारा, इसे महत्वपूर्ण गति प्रदान की गयी। उक्त विषय–वस्तुओं को आधार बनाकर विरचित हिन्दी गीत

एवं कविताएँ जन–जन की जुबान पर रहीं और देशवासियों की भावनात्मक अभिव्यक्ति एवं उद्‌बोधन का माध्यम बनीं। इनमें से कुछ को हम पुनः स्मरण कर स्वयं को गौरवान्वित समझते हैं–

सरफ़रोशी की तमन्ना अब हमारे दिल में है,
देखना है ज़ोर कितना बाजू–ए–क़ातिल में है।

(शहीद राम प्रसाद 'बिस्मिल')

करो थोड़ी हिम्मत, न ढूँढ़ो बहाने,
चलो जेलखाने! चलो जेलखाने!!

(अज्ञात)

भारत न रह सकेगा हरगिज़ गुलामखाना,
आज़ाद होगा, होगा, आता है वह ज़माना।

(अज्ञात)

सारे जहाँ से अच्छा हिन्दोस्तां हमारा,
हम बुलबुलें हैं इसकी, यह गुलिस्तां हमारा।

(इक़बाल)

विजयी विश्व तिरंगा प्यारा,
झंडा ऊँचा रहे हमारा।

(श्यामलाल गुप्त "पार्षद")

कोटि–कोटि कंठों से निकली, आज यही स्वरधारा है,
भारतवर्ष हमारा है, यह भारतवर्ष हमारा है।

(बालकृष्ण शर्मा "नवीन")

इस अंक में हम ऐसी रचनाओं को भी स्थान दे रहे हैं जो उक्त दृष्टि से उल्लेखनीय हैं। यद्यपि मैं स्थानाभाव के कारण कतिपय अत्यन्त प्रिय रचनाओं को सम्मिलित नहीं कर पा रहा हूँ जिसका मुझे खेद है किन्तु मेरा प्रयास होगा कि शीघ्र ही हम "उद्‌बोधन" नाम से एक स्तम्भ प्रारम्भ करें जिसमें उक्त विषय–वस्तुओं से सम्बन्धित दो–तीन रचनाओं को प्रत्येक अंक में सम्मिलित किया जाय। भविष्य में पत्रिका को और बेहतर बनाने के लिए आप सभी की प्रतिक्रिया एवं सुझावों का स्वागत रहेगा।

शुभ कामनाओं सहित,

डा0 अनिल कुमार

बाबू जी तेरे ही ग़म में

- डा0 अनिल कुमार पाठक

बाबू जी तेरे ही ग़म में, आमों के बौर नहीं आये,
पतझड़ ही चहुँ ओर हुआ,नहिं बसंत कहीं बगराये।

गैया रोयें,मैया रोये,
भैया रोयें,रोयें बहना।
बेटा–बेटी, नाती–पोते,
है, सूना–सूना घर–अँगना।

बिलख रहे हैं,बन्धु– बान्धव, उनकी पीड़ा सही न जाये।
बाबू जी तेरे ही ग़म में, आमों के बौर नहीं आये।।

सब कुछ दुःखमय हुआ, यहाँ,
वह प्राण–तत्व तो चला गया।
दिखे चतुर्दिक यह परिवर्तन,
वह सार तत्व तो चला गया।

रीता सा है, अपना जीवन, कैसे अब फिर भर पाये।
बाबू जी तेरे ही ग़म में,आमों के बौर नहीं आये।।

हे प्राण तत्व! हे सार तत्व,
तुम जीवन थे इस काया के।
थे, सूत्रधार! तुम कर्णधार,
अपनी इस सारी माया के।

मुझसे यह सँभल नहीं पाती, राह कौन अब दिखलाये।
बाबू जी तेरे ही ग़म में, आमों के बौर नहीं आये।।

❖❖❖

भावों की मधुलहरी

– पारस नाथ पाठक 'प्रसून'

आज न छेड़ो, तुम मुझको, मेरे भावों की मधुलहरी।

आज अंगारों पर चलने दो जीवन का अभिशाप लिए,
और नियति की क्रूर वेदना के हासों का ताप लिए,
आज मुझे ही लूट रहा है, मेरे जीवन ही का प्रहरी।
आज न छेड़ो, तुम मुझको, मेरे भावों की मधुलहरी।।

मानव की क्रंदित छाया को कुछ डग आगे चलने दो,
अपनी परवशता के आगे कुछ क्षण उसको गलने दो,
पथ के आगे की खाई को कुछ तो होने दो, गहरी।
आज न छेड़ो, तुम मुझको, मेरे भावों की मधुलहरी।।

मन के तापों की हलचल से, जीवन की राह बदलने दो,
व्यर्थ कल्पना के पथ पर तुम, न मुझे, अब चलने दो,
जीवन की कटु घड़ियों में,तू प्रेम कथा अब मत कह री।
आज न छेड़ो तुम मुझको, तुम मेरे भावों की मधुलहरी।।

❖❖❖

प्रभात किरण

- गया प्रसाद शुक्ल 'सनेही'

तमराज का शासन देख के लोक में, रोष के रंग में राती चली,
कर में बरछी लिए चण्डिका–सी, तिरछी–तिरछी मदमाती चली।
नव जीवन–ज्योति जगाती चली, निशाचारियों को दहलाती चली,
फल कंचन–कोष लुटाती चली, मुसक्याती चली, बल खाती चली।

फूटी जो तू उदयाचल से लटें लम्पटजोरों के भाग्य से फूटे,
टूटी जो तू तमचारियों पै, गुम होश हुए उनके दिल टूटे।
लूटी जो तूने निशाचरी माया तो लोक ने जीवन के सुख लूटे,
छूटी दिवा–पति अंक से तू, मतवाले मिलिन्द भी बन्दि से छूटे।

क्रूर कुकर्मियों का किया अन्त, अँधेरे में जो विष बीज थे बोते,
जाने उलूक लुके हैं कहाँ, फिर प्राण पड़े निज खोते में खोते।
तोल रहे पर मत्त विहंग सरोज पै भृंग निछावर होते,
सोते उमंग के हैं उमगे, लगा आग दी तूने जगा दिए सोते।

सुरलोक की है सुर–सुन्दरी तू कि स्वतन्त्रता की प्रतिमूर्ति सुहानी,
जननी सुमनों की कि सौरभ की सखी धाई सनेही सनेह में सानी।
जग में जगी ज्योति जवाहर–सी, गई जागृति देवी जहान में मानी,
नव जीवन जोश जगा रही है, महरानी है तू किस लोक की रानी।

क्षण एक नहीं फिर होके रहा, थिर छिन्न तमिस्रा का घेरा हुआ,
लहराने प्रकाश–पताका लगी, न पता लगा क्या वो अँधेरा हुआ।
फिर सोने का पानी गया पल में, जिस ओर से तेरा है फेरा हुआ,
कहती, न पड़े मन मारे रहो, अब उट्ठो सनेही सबेरा हुआ।

❖❖❖

सागर के उस पार

– गया प्रसाद शुक्ल 'सनेही'

सागर के उस पार
सनेही,
सागर के उस पार।
मुकुलित जहाँ प्रेम–कानन है,
परमानन्द–प्रद नन्दन है।
शिशिर–विहीन वसन्त–सुमन है,
होता जहाँ सफल जीवन है।
जो जीवन का सार
सनेही।
सागर के उस पार।
है संयोग, वियोग नहीं है,
पाप–पुण्य–फल–भोग नहीं है।
राग–द्वेष का रोग नहीं है,
कोई योग–कुयोग नहीं है।
हैं सब एकाकार
सनेही,
सागर के उस पार।
जहाँ चवाव नहीं चलते हैं,
खल–दल जहाँ नहीं खलते हैं।
छल–बल जहाँ नहीं चलते हैं,
प्रेम–पालने में पलते हैं।
है सुखमय संसार
सनेही,
सागर के उस पार।
जहाँ नहीं यह मादक हाला,
जिसने चित्त चूर कर डाला।
भरा स्वयं हृदयों का प्याला,
जिसको देखो वह मतवाला।
है कर रहा विहार
सनेही,
सागर के उस पार।
नाविक क्यों हो रहा चकित है ?
निर्भय चल तू क्यों शंकित है ?
तेरी मति क्यों हुई थकित है ?
गति में मेरा–तेरा हित है।
निश्चल जीवन भार
सनेही,
सागर के उस पार।

❖❖❖

यात्री

- सियाराम शरण गुप्त

कैसे पैर बढ़ाऊँ मैं ?
इस घन गहन विजन के भीतर
मार्ग कहाँ,जो जाऊँ मैं ?

कुटिल कँटीले झंखाड़ों में
उत्तरीय उड़कर मेरा,
उलझ–उलझ जाता है, इसको–
कहाँ–कहाँ सुलझाऊँ मैं ?

कहीं धसी है धरा गर्त में,
कहीं चढ़ी है टीलों पर,
मुक्त विहग–सा उड़ जाऊँ जो–
पंख कहाँ से लाऊँ मैं ?

पंख कहाँ से लाऊँ मैं ।
अरे, पैर ही क्या कुछ कम हैं ।
क्यों न अभी बढ़ जाऊँ मैं ?

उत्तरीय का क्या, यह तन भी–
क्षत छिन्न हो जाने दूँ,
इन शत–शत काँटों में बिंध कर,
लक्ष्य लाभ निज पाऊँ मैं ।
गह्वर टीले इधर–उधर हैं,
मुझको पथ देने को ही,
अपने इन पद चिन्हों पर ही,

नूतन मार्ग बनाऊँ मैं ।
कुछ हो, पैर बढ़ाऊँ मैं ।

❖❖❖

हिमालय

-श्याम नारायण पाण्डेय

यह तुंग हिमालय किसका है,
उत्तुंग हिमालय किसका है।
हिमगिरि की चट्टानें गरजीं,
जिसमें पौरुष है, उसका है।
पत्थर से ईंटों का जबाब–
जो दे के गरजे, शान रखे।
लोहे की दृढ़ता से लोहा–
जो ले के,माँ का मान रखे।

जिसकी भुजंग सी बाँहों में,
फुफकार भरी है शक्तिभरी।
जिसकी गज भर की छाती में,
जनता की है अनुरक्ति भरी।

जो बैरी का मस्तक काट–काट,
अम्बार लगाये, उसका है।
फन काढ़े साँपों के सर पर,
जो राह बनाये, उसका है।
जो सीने पर गोली खाये,
पर कदम–कदम बढ़ता जाये।
जो महामृत्यु को भी ढकेल,
अरि–मस्तक पर चढ़ता जाये।
जो मरकर भी जीने वाला,
जनता हित विष पीने वाला।

संगर में प्रलयंकर बनकर,
जो मुण्डमाल सीने वाला।
बर्बर बैरी के घर–घर में,
जो आग लगाये, उसका है।

.....हिमालय

जो वज्रनाद के भी ऊपर,
आवाज लगाये, उसका है।
इनसे–उनसे दबने वाले,
यह नहीं दबैलों का गिरीन्द्र।
यह सिहों की स्वच्छन्द भूमि,
दुर्द्धर्ष अड़ैलों का गिरीन्द्र।

जो नहीं शत्रु को जान सका,
जो नहीं मित्र पहचान सका।
उससे गिरिराज घृणा करता,
जो वैरी को दहला न सका।
जो पंचमांगियों के मस्तक,
निर्भीक उड़ाये, उसका है।
जो पाँवों की गम्भीर धमक से,
धरा हिलाये, उसका है।
जिस धरती का रस पिये जिए,
उस धरती को बदनाम करे।
बाहर भारत का भक्त बने,
भीतर कैंची का काम करे।
गद्दारों के सीनों में जो–
संगीन घुसाये, उसका है।
जो अपनी माँ के स्वाभिमान पर–
प्राण गँवाये, उसका है।

यह तुंग हिमालय किसका है,
उत्तुंग हिमालय किसका है।
हिमगिरि की चट्टानें गरजी,
जिसमें पौरुष है, उसका है।

❖❖❖

मेरे देश के हित जो साथी

राकेश चक्र

मरे देश के हित, जो साथी।
उन पर रोज जलाओ बाती।।
खग जैसे रहते मिल–जुल के –
बची रहे मानव की थाती।।
राग सुनें, कोयल–मैना के–
चिन्ता छूमन्तर हो जाती।।
दुःख–सुख हैं जो सब पे आते–
चिन्ता, चिता कभी बन जाती।।
वृक्षों से, यदि प्रेम तुम्हारा–
हवा भी अपने झोंके लाती।।
जीना है तो हँसकर जीना–
सब ही पुस्तक यहीं बतातीं।।
गैरों का सुख हम न देखें–
द्वेष भावना बढ़ती जाती।।
वही चलाता सबको भैया–
श्रम से नई राह बन जाती।।
'चक्र' नहीं है, भाग्य सहारे–
चींटी बार–बार बतलाती।।

❖❖❖

रंग

- मधुकर उपाध्याय

उलझना हो
तो इक दिन रंग से उलझो।
लकीरें खींचना–
अब जिंदगी को आजमाने का,
पुराना–सा
तरीका हो गया है।

लकीरें,
रंग भरने की हदें–
तय कर सकेंगी,
एक हद तक।
पर उसके बाद
वो बस बाँट ही सकती हैं,
रंगों को।
काट देना रंग को
मुश्किल रहा भी है
हमेशा से।

चमक चेहरों की
मद्धम हो गई होगी–
या शायद कट गई होगी–
लकीरों से।
या शायद
एक पल को यूँ लगा होगा।

लकीरें–
बस लकीरें काट सकती हैं,
रंगों को
छू नहीं सकतीं।

❖❖❖

इस भीड़ में

- कल्लोल चक्रवर्ती

इस भीड़ में जीता हूँ,
गिर पड़ूँगा इसी भीड़ में एक दिन
और किसी को कानों–कान खबर न होगी।

मैं इस विक्षुब्ध देश का उदास नागरिक,
एक भगोड़ा बेटा–
और प्यारी पत्नी का नाकाम पति
रात–रात भर जाग कर,
डायरियों में अपनी उदासी दर्ज करता, कवि।

अपनी पैंट की जेब में पता ले कर,
घूमता हूँ भीड़ में।
निहारता हूँ भीड़ में अपने जैसे चेहरों को,
मैं उपस्थिति हूँ इन सबकी–
भूख और अनिद्रा में।
इनके अनिश्चित भविष्य में,
शामिल है मेरा जीवन।

इसी भीड़ में जीता हूँ,
इसी भीड़ में अपने अंत को,
देखूँगा साफ–साफ।

लड़कियाँ
वे जींस पहनती हैं हवाई जहाज चलाती हैं,
वर्जित प्रदेशों की यात्राओं पर जाती हैं।
वे अपना खाती हैं,
अपना पहनती हैं।
और किसी की ओर याचना भरा हाथ नहीं फैलातीं,
वे रोती नहीं हैं,
बुदबुदाती नहीं है।
और घुटन भरे अँधेरे कमरे में अपना जीवन,
बरबाद नहीं करतीं।

वो झिझकती नहीं हैं, दबती नहीं हैं,
अपने रूप–रंग और लंबाई को ले कर उनमें–
कोई ग्लानि नहीं है।
वे भाइयों की तरह पलती हैं,
पिता का सहारा बनती हैं,
और केवल शादी तक सिमट कर नहीं रह जातीं।
उनका पुरुष नहीं है,
ईश्वर नहीं है,
और बगैर अवलंब के वे बेखौफ कुलाचें भरती हैं।

❖❖❖

दीपकों को भी न भूलो।

- परमानंद जड़िया

सूर्य को कर लो नमन, पर–
दीपकों को भी न भूलो।
त्याग कर सरिता सरोवर,
सिन्धु खारे पर न फूलो।

है तुम्हें अधिकार सुन्दर–
पुष्प –कलियों के चयन का।
और कोमल दूब के भी–
मृदु बिछौने पर शयन का।

किन्तु छाया में द्रुमों की,
भूल मत जाओ तृणों को।
छेड़ देते हैं कभी ये–
शूल बनकर तन–व्रणों को।

है बहुत उन्नत हिमालय,
किन्तु रज–कण से बना है।
नीर से निष्पृह कमल का,
पंक में रहता तना है।

शेष–फण पर ही टिकी है,
भूमि यह सद्–ग्रंथ कहते।
राज–शिविका को उठाये,
सेवकों के झुण्ड रहते।

❖❖❖

हम

- तेज राम शर्मा

हम ही बर्फ की तरह–
बार–बार गिरते हैं धरती पर।
तपती धरा के माथे पर
भट्ठी करते से।
बहुत दूर जा कर,
क्षितिज के उस पार से।
तारों के बीच टिम–टिमाते,
हम ही ढूँढ़ते रहते हैं, अपना चेहरा,
स्कूली बच्चों के

झुंडों के बीच।
अभी–अभी
सिसकियाँ लेते–लेते–
चुप हुए हैं हम।
सपने में कोई परी–
हाथ बढ़ा रही है, हमारी ओर।

कौन सी बात है वह
जो हमारे मुँह में ही
दबा दी गई।
जिसे सुन कर बेचैन हो रही है
पहाड़ी नदी।

हम ही चीर रही हैं
पृथ्वी को बीचों–बीच।
उत्तर और दक्षिण में
जिसे रोक नहीं पा रहे हैं,
सूरज के रथ के
तेज भागते अश्व भी।

❖❖❖

धूसर मिट्टी की जोत में

– लक्ष्मीकांत मुकुल

पहाड़ों की निर्जन ढलानों से उतरना,
कोई अनहोनी नहीं थी उनके लिए।
बीड़ी फूँकते मजदूरों की ओर,
मुड़ जाती थी फड़वों की तीखी धार।
सरपतों के घने जंगल में दुबके–
मटमैले गाँवों की गरमाहट से

साँझ दुबकती जाती
उँगलियाँ गिनते,
चटखने लगतीं उँगलियाँ,
बिच्छुओं के डंक टूँगते ही
आसमानी जिस्म पर्दों की ओट में काँपने लगता।

छूँटने लगतीं
धुँधली बस्तियों की –
सदियों से लिपटी स्याही,
चिड़ियों के चोंच दौड़ जाते
बीछने वनखेतों में उगी मनियाँ।
धूसर मिट्टी की जोत में
अंकुरण का
चक्र फिर घूमने लगता।

❖❖❖

आरती-सा जल रहा हूँ

- हृदयानन्द तिवारी 'कुमारेश'

मैं पुजारी रूप का बन,
आरती–सा जल रहा हूँ।
कुछ दिवस पहले,पुरी–
अभिलाष की मेरी सजी थी।
कुछ दिवस पहले, मिलन की,
मंजु शहनाई बजी थी।
कुछ दिवस पहले, सुनहली–
चन्द्रिका ने हँस कहा था–
'क्या मधुकर मधुऋतु'?सुखद–
सौंदर्य का निर्झर बहा था।
अब ढलकते अश्रु पल–पल,
वेदना में पल रहा हूँ।
मैं पुजारी रूप का बन,
आरती–सा जल रहा हूँ।
हो रहा दो टूक–सा अब,
दर्प का दर्पण बिचारा।
यज्ञ–सा पावन हृदय यह,
चाहता दर्शन तुम्हारा।
चिर प्रतीक्षा–सा विकल हूँ,
आस में पलकें बिछाये।
मैं बना आराधना–सा,
ध्यान में धूनी रमाये।
सृष्टि में अभिशाप–सा बन,
उपल–सा मैं गल रहा हूँ।
मैं पुजारी रूप का बन,
आरती–सा जल रहा हूँ।

❖❖❖

पावन कर दो, मेरी कुटिया

- श्रीराम श्रीवास्तव 'कमलेश'

प्रिय! अधिक नहीं बस एक बार ,
पावन कर दो, मेरी कुटिया।
निद्रा देवी आलिंगन में,
जब संसृति आनन्द लेती है।
प्रिय! सुस्मृति तुम्हारी जग–जग कर,
तब हमें न सोने देती है।
नमक जले उर पर लाने का,
क्या इसको है आदेश दिया?
पावन कर दो, मेरी कुटिया। प्रिय.––– ।
आशा–दीप जला कर मैंने,
जाने कब–कब किया सवेरा।
कितनी ही अभिलाषाओं का,
मरघट बन गया, हृदय मेरा ।
क्या सदय हृदय होकर, इस पर–
तुमने कुछ कभी विचार किया।
पावन कर दो, मेरी कुटिया। प्रिय.––– ।
सोचो तो, देकर आश्वासन,
कै बार प्रिये तुम भूल गये।
मैं कहते–कहते हार गया,
तुम सुनते–सुनते ऊब गये ।
सच कह दो, मेरे प्रति इतना,
क्यों निष्ठुर कोमल हृदय किया।
पावन कर दो, मेरी कुटिया। प्रिय.––– ।
प्रिय! दर्श–तृषाकुल नयनों की,
अब तो प्यास बुझाने आओ।
'कमलेश', विनय यह अंतिम है,
कुछ भी तो सकरुण बन जावो।
चिर बिरह ज्वाल में जल–जलकर,
यह स्नेही कुछ कम नहीं जिया।
पावन कर दो, मेरी कुटिया। प्रिय.––– ।

❖❖❖

खण्डहर

- गया प्रसाद तिवारी 'मानस'

अब जीर्ण–शीर्ण खण्डहर हो गये हैं, यह,
पर हैं अमूल्य निधि सुषमा अपार की।
अंग–अंग इनके विलोकित ज्ञात होता यही
कृति है, अनूप, किसी योग्य कलाकार की।
भग्न, रुग्ण, अवसादमय इनका है,तन,
मन में सँजोये यादें यौवन के ज्वार की।
वाणी से विहीन हैं, कहानी कहते हैं किन्तु
सुखद अतीत की या विगत बहार की।

ऋतुराज राजता जहाँ था सदा वहाँ अब,
गोखुरू, कुटज, कुश, कन्टक निकर हैं।
अगणित कला कृति सज्जित जहाँ थी, वहाँ–
अब चमगादड़ों के गढ़ दृढ़तर हैं।
अगरु, सुगन्ध से सुवासित सुरम्य हर्म्य,
सीलन, सड़ाँध के सतत सहचर हैं।
ललित, ललाम लक्ष्मी माँ के धाम हाय!अब,
निपट निकाम लक्ष्मी वाहनों के घर हैं।

स्वर्ण सौध घिस– पिट कर बने खण्डहर,
ऐसा हुआ इन पर क्रूर काल का प्रहार।
हास से, विलास से रहित रनिवास सब,
सूने सभाकक्ष,कभी भीड़ थी, जहाँ अपार।
विविध कलाविद समाज जुड़ते थे, जहाँ–
वहाँ अब बोलते हैं खर,श्वान और स्यार।
रुनझुन नूपुर हजार बजते थे, जहाँ,
होती, अब वहाँ झिल्ली, झींगुरों की झनकार।

बूढ़े हैं, अपंग हैं, अनादृत, उपेक्षित हैं,
इनके अतीत के मधुर गीत गाये कौन?
धूल–धूसरित अन्धकार में पड़े हैं, यह,
इतिहास धूमिल है उसे चमकाये कौन?
रूप है, न रंग, न उमंग है, उछाह नहीं,
बाँहें भर निज वक्ष से इन्हें लगाये कौन?
तिल–तिल गलते से जा रहे हैं, खण्डहर,
हास या विनाश रोक, इनको बचाये कौन?

❖❖❖

युद्ध का हिसाब

- कृष्ण प्रताप सिंह

युद्ध तो होना ही था–
और हमें लड़ना ही।
नहीं लड़ते तो भी,
बिन आयी मौत मरते।
पर लड़े वे भी
हमारे हिसाब से जिन्हें–
नहीं लड़ना चाहिए था।

युद्ध के पीछे थी
एक अदद दुनिया,
जिसमें हमने हिस्सा माँगा था–
बराबर का।
और उनके हिसाब से
उचित था कि चुपचाप–
रियायतों पर गुजर करते।

वे हमें अपने ढंग से
हाँकना चाहते थे,
हम उन्हें सीधी राह
लाना चाहते थे।
आज जब दोनों
एक पल को ठिठके हैं,
हमारे हिसाब से
युद्ध अभी जारी है,
उनके हिसाब से
कब का निपट जाना था।

❖❖❖

एक और पक्ष है इस विचित्र युद्ध का।
तीसरा पक्ष जो
शांति–शांति रटता है,
पर झगड़े की जड़
दुनिया की बाबत–
बोलने में–
उसका थूक अटकता है।

युद्ध का हिसाब।
यह पक्ष भी लगता है,
हम दोनों से कुछ ज्यादा ही–
पर जीत–हार में भी इसकी दिलचस्पी नहीं–
और जो भी जीतता हुआ लगता है,
उसी के पक्ष में
नारे लगाता है।

इस पक्ष का कहना है,
एक बात गलत हुई,
युद्ध की शर्तें तय करने का काम
उसे दिया जाना था।

❖❖❖

एक तिरंगा भाषा एक रहे

- वीरेन्द्र अंशुमाली

एक राष्ट्र में एक तिरंगा, भाषा एक रहे,
कोटि–कंठ, समवेत–स्वरों अभिलाषा एक रहे।
वर्ण–वर्ण के फूल सभी नयनों को भाते हैं,
रूप–गन्ध–रस रंजित उपवन हमें बुलाते हैं।
अलग सभी पंखुरी खिलें,पर शतदल एक रहे।
एक राष्ट्र में एक तिरंगा, भाषा एक रहे।

मिलती जब अंगुलियाँ, हाथ की मुट्ठी तन जाती,
कच्चे धागे भी मिल जाएँ, रस्सी तन जाती।
चाहे जितनी पतवारें हों, मंजिल एक रहे।
एक राष्ट्र में एक तिरंगा, भाषा एक रहे।

झिलमिल दिखते सभी सितारे जग को दमकाते,
काली रातों में भी उजली राह बना जाते।
इस अम्बर की भरी भीड़ में, चन्दा एक रहे।
एक राष्ट्र में एक तिरंगा, भाषा एक रहे।

जब स्वदेश की भाषा–भूषा को अपनाएँगे,
युग–दर्पण में संस्कृति अपनी बिम्बित पाएँगे।
अलग हृदय,मस्तिष्क अलग,पर चिन्तन एक रहे।
एक राष्ट्र में एक तिरंगा, भाषा एक रहे।

हर मजहब, हर भाषा–भाषी, पहले हिन्द–निवासी,
आत्म समर्पण मूल मंत्र हो,तज दें घृणा, उदासी।
भारत बने महान, सभी की आशा एक रहे।
एक राष्ट्र में एक तिरंगा, भाषा एक रहे।

❖❖❖

कोयल

- सुभद्रा कुमारी चौहान

देखो कोयल काली है,पर–
मीठी है, इसकी बोली।
इसने ही तो कूक कूक कर–
आमों में मिश्री घोली।

कोयल–कोयल सच बतलाना,
क्या संदेसा लायी हो।
बहुत दिनों के बाद आज फिर–
इस डाली पर आई हो।

क्या गाती हो, किसे बुलाती,
बतला दो,कोयल रानी।
प्यासी धरती देख, माँगती–
हो, क्या मेघों से पानी?

कोयल यह मिठास क्या तुमने,
अपनी माँ से पायी है?
माँ ने ही क्या तुमको मीठी–
बोली, यह सिखलायी है?

डाल–डाल पर उड़ना गाना,
जिसने तुम्हें सिखाया है।
सबसे मीठे–मीठे बोलो,
यह भी तुम्हें बताया है।

बहुत भली हो, तुमने माँ की–
बात सदा ही है, मानी।
इसीलिये तो तुम कहलाती–
हो, सब चिड़ियों की रानी।

❖❖❖

यह कदम्ब का पेड़

-सुभद्रा कुमारी चौहान

यह कदंब का पेड़ अगर माँ होता यमुना तीरे,
मैं भी उस पर बैठ कन्हैया बनता धीरे–धीरे ।
ले देती यदि मुझे बाँसुरी तुम दो पैसे वाली,
किसी तरह नीची हो जाती यह कदंब की डाली।
तुम्हें नहीं कुछ कहता, पर मैं चुपके–चुपके आता,
उस नीची डाली से अम्मा ऊँचे पर चढ़ जाता।
अम्मा–अम्मा कह बंशी के स्वर में तुम्हें बुलाता ।।

सुन मेरी बंसी, माँ तुम कितना खुश हो जातीं,
मुझे देखने काम छोड़कर, तुम बाहर तक आती ।
तुमको आती देख, बाँसुरी रख मैं चुप हो जाता,
एक बार माँ कह, पत्तों में धीरे से छिप जाता ।
तुम हो चकित देखती, चारों ओर ना मुझको पातीं,
व्याकुल सी हो तब, कदंब के नीचे तक आ जातीं।
पत्तों का मरमर स्वर सुनकर, जब ऊपर आँख उठातीं
मुझे देख ऊपर डाली पर, कितनी घबरा जाती ।।

गुस्सा होकर मुझे डाँटती, कहतीं नीचे आ जा,
पर जब मैं ना उतरता, हँसकर कहतीं मुन्ना राजा ।
नीचे उतरो मेरे भैया, तुम्हें मिठाई दूँगी,
मिश्री–माखन, दूध–मलाई नये खिलौने दूँगी ।
मैं हँसकर सबसे ऊपर की डाली पर चढ़ जाता,
वहीं कहीं पत्तों में छिपकर, फिर बाँसुरी बजाता ।
बहुत बुलाने पर भी जब मैं ना उतरकर आता,
माँ, तब माँ का हृदय तुम्हारा बहुत विकल हो जाता ।।

तुम आँचल फैलाकर अम्मा, वहीं पेड़ के नीचे,
ईश्वर से विनती करतीं, बैठी आँखें मीचें ।
तुम्हें ध्यान में लगी देख, मैं धीरे–धीरे आता,
और तुम्हारे आँचल के नीचे, मैं छिप जाता ।
तुम घबराकर आँख खोलतीं, और माँ खुश हो जातीं,
जब अपने मुन्ना राजा को गोदी में ही पातीं ।
इसी तरह कुछ खेला करते हमधीरे–तुम धीरे,
यह कदंब का पेड़ अगर माँ होता यमुना तीरे ।।

❖❖❖

चूहे की दिल्ली यात्रा

-रामधारी सिंह 'दिनकर'

चूहे ने यह कहा कि चुहिया! छाता और घड़ी दो,
लाया था जो बड़े सेठ के घर से, वह पगड़ी दो।
मटर–मूँग जो कुछ घर में है, वही सभी मिल खाना,
खबरदार, तुम लोग कभी बिल से बाहर मत आना।
बिल्ली एक बड़ी पाजी है, रहती, घात लगाए,
जाने वह कब किसे दबोचे, किसको चट कर जाए।
सो जाना सब लोग लगाकर दरवाजे में किल्ली,
आजादी का जश्न देखने मैं जाता हूँ, दिल्ली।
चूँ–चूँ–चूँ, चूँ–चूँ–चूँ, चूँ–चूँ–चूँ,

दिल्ली में देखूँगा आजादी का नया जमाना,
लाल किले पर खूब तिरंगे झंडे का लहराना।
अब न रहे, अंग्रेज, देश पर अपना ही काबू है,
पहले जहाँ लाट साहब थे वहाँ आज बाबू है।
घूँमूगा दिन–रात, करूँगा बातें नहीं किसी से,
हाँ फुर्सत जो मिली, मिलूँगा जरा जवाहर जी से।
गाँधी युग में कौन उड़ाए, अब चूहों की खिल्ली?
आजादी का जश्न देखने मैं जाता हूँ, दिल्ली।
चूँ–चूँ–चूँ, चूँ–चूँ–चूँ, चूँ–चूँ–चूँ,

पहन–ओढ़कर चूहा निकला चुहिया को समझाकर,
इधर–उधर आँखें दौड़ाईं बिल से बाहर आकर।
कोई कहीं नहीं था, चारों ओर दिशा थी, सूनी,
शुभ साइत को देख हुई चूहे की हिम्मत दूनी।
चला अकड़कर, छड़ी लिये, छाते को सिर पर ताने,
मस्ती मन की बढ़ी, लगा चूँ–चूँ करके कुछ गाने।
इतने में लो पड़ी दिखाई कहीं दूर पर बिल्ली,
चूहेराम भगे पीछे को, दूर रह गई दिल्ली।
चूँ–चूँ–चूँ, चूँ–चूँ–चूँ, चूँ–चूँ–चूँ,

❖❖❖

ऐसा है देश मेरा

-पायल कुमारी भारती

जहाँ बसती है प्रकृति की सुन्दर काया,
देखते ही उसे मन में एक सुन्दर ख्याल आया।
है यह विश्व का उगता हुआ सवेरा,
मानवता का है जहाँ डेरा।
ऐसा देश है, मेरा।

पुराणों की गाथा है जहाँ,
कल–कल करती नदियाँ हैं वहाँ।
साहित्य–इतिहास की भरमार यहाँ,
खुशियों और त्योहारों का है बसेरा।
ऐसा देश है मेरा।

बच्चों की किलकारियाँ,
फल–फूलों से भरी क्यारियाँ।
खेतों में लहलहाती बालियाँ,
मिट्टी की खूशबू का रंग सुनहरा।
ऐसा देश है मेरा।

वीरों की धरती हैं कहते,
हर धर्म के लोग यहाँ रहते।
देश का गुणगान करते नहीं थकते,
दिल को लुभाए हर एक नजारा।
ऐसा देश है मेरा।

❖❖❖

नायिका

– अर्चना झा

मेरे मन के भीतर है,
एक नायिका।
वह, जो मन को ईर्ष्या से खींचकर,
प्रेम के जल से सींचकर,
क्रोध और उत्तेजना की अग्नि को
कर देती है, शांत।
वह जो एक प्रेमिका है,
कोमल है, भावुक है,
प्रेम निवेदिका है।
वह जो चंचल है, भोली है,
ग्रामीण बाला जैसी–
पागल है,मदमत्त है।
स्वयं एक मधुशाला जैसी,
यथार्थ को पीछे छोड़कर,
समय से भी आगे,
संपूर्ण काया जब सो जाती है,
वह जोगिनी तब भी जागे।

❖❖❖

जिंदगी

- उर्मिला सिंह

जिंदगी बनकर रह गई अतुकांत मुक्तक।
भाग्य की लकीरों ने
कहीं उसे वाक्यों में ढाल दिया,
तो कहीं एक शब्द की पंक्ति रह गई।
कभी–कभी बिंबों प्रतीकों का सहारा लेकर,
समझौता किया, स्वयं से।
विरह, शोक, वीभत्स
रसों का समावेश,
सहज ही हो गया।
जिंदगी में मेरी
अलंकारों का स्थान ले लिया,
मेरे जीर्ण वस्त्रों ने।
जिन्दगी बनकर रह गई
अतुकांत मुक्तक।

❖❖❖

एक लता की तृष्णा

- संगीता निगम

मैं जमीन से उगी वह लता हूँ
जिसके आस–पास–
दूर–दूर तक एक भी वृक्ष नहीं।
बहुत उम्मीद थी मुझको
काश! मेरे इर्द–गिर्द भी–
कोई वृक्ष, आकाश की ऊँचाइयों को–
छूता खड़ा होता जिसके सहारे चढ़कर मैं
आकाश की अनंत ऊँचाइयों को पा जाती
उस संपूर्ण वृक्ष पर छाकर।
उसे अपने हृदय में बसाती,
सूरज की तेज किरणों से–
और लोगों की निगाहों से उसे–
बचाकर रखने का प्रयास करती।
और मुझे उस पर नाज होता
जब बसंत बहार आती तब हम दोनों ही इठलाते।
वृक्ष अपने फूल खिलाता,
मैं भी मद–मस्त होकर दूर हवाओं में
अपनी सुगंध फैलाती।
ऐसा होता तो कितना अच्छा होता,
मगर मेरी उम्मीदें अभी टूटी नहीं हैं।

❖❖❖

आत्मकथा

- राजी सेठ

परिजन नहीं चाहते
खोल दिए जाएँ, सच,
हितैषी नहीं चाहते
खुल जाएँ,आवरण।
पुरखे नहीं चाहते
इतिहास की नींवें,
उछाल दें,
उनकी हड्डियों का चूरा।
बच्चे नहीं चाहते
मुड़कर पीछे देखें,
स्त्रियाँ नहीं चाहतीं
वे अपमानित हों,
लड़कियाँ नहीं चाहतीं
खुल जाए
अंधेरे की घात,
मित्र नहीं चाहते
खो दें, मित्रता,
अमित्र नहीं चाहते
अतिरिक्त,
कला नहीं चाहती
उघड़े भदेसपन,
सुंदर नहीं चाहता
यथार्थ,
गीत नहीं चाहते
बेसुरापन,
आकाश नहीं चाहता
व्याप,
नदी क्यों चाहेगी
तलछट,
आज क्यों चाहेगा
बीता कल।

❖❖❖

हीरन को हार

- डा. शांतिदेव बाला

जिभ्या जिन बस में करी, तिन बस कियो पति प्राण।
नाहीं तो रणभेरी बजै, कहैं सब सन्त सुजान।।

करक गड़न दुरजन वचन, रहा घरवाला टार।
पत्नी तो रूठी बैठे, न मिले हीरन को हार।।

खोद–खाद धरती सहै, काट–कूट बन राय।
कुटिल वचन प्रेमी सहे, प्रिय बिन रहा न जाय।।

कथनी कथि फूला फिरै, करनी करि न जाय।
भाषण, वादे, पता पुराने, मुख निकसे, झड़ि जाय।।

कथनी कथि फूला फिरै, भाषण कर इतराय।
राष्ट्र भक्ति समझे इहै, घर मेरा भरि जाय।।

पार्टी गुन गावै हरषि के, हिरदय कपट न जाय।
आप तो कुछ ना करे, औरन पर हुकुम चलाय।।

माला फेरत साधू मुए, मिटा न मन का फेर।
टिकट जो मिल जाय तो, लड़े, इलेक्शन सवा सेर।।

पढ़ै, गुने मनु भए, कीर्ति फैली सब संसार।।
बहना बसपा नहिं समझे, ज्यों खर चंदन भार।।

❖❖❖

चिन्दियाँ

-ऊषा चौधरी

आज के विकासशील युग में,
पुराने को ओढ़े रहना महज कायरता है।
परम्पराएँ तोड़ी जा रही हैं,
मान्यताएँ मोड़ी जा रही हैं।
इन्सान को नये ढंग से जीना है,
तो–
चरित्र की पुरानी मान्यताओं को कब तक ढोता रहेगा?
इसलिए ही तो–
चरित्र की चिन्दियाँ उड़ाकर,
चरित्रवान होने का दम्भ करने वाला ठोकर खाता रहता है।
और–
जो जितनी शीघ्रता से ओढ़े हुए को छोड़ देगा,
बोझ हल्का होगा और वह आगे बढ़ता जायेगा।
सुन्दरता नये–नये परिधानों में निखरती जाती है।
तुमने एक पुरानी चादर ओढ़ी है,
तुम उसे छोड़ना नहीं चाहते,
पुरातत्ववेत्ता धरती में दबी चिन्दियों को जोड़कर,
हजारों वर्षों का इतिहास बता देता है।
और–तुम्हारे कन्धों पर फैली चिन्दियों का–,
इतिहास ही क्या होगा ?
सिवा इसके कि, यह प्रचारित कर दें–
तुम हठी हो,
तुम कायर हो,
तुम मूर्ख हो, और–
तथाकथित सम्भ्रान्त मानवों ने तुम्हें,
रेशमी दुशाले से सम्मानित करना चाहा।
तुम्हें अपने पुरानेपन से मोह है तो–
ओढ़े रहो, इसे।
यह अपनी आयु रहने तक ही तुम्हारा तन ढक सकता है।
नग्नता से बचने के लिए,
फिर तुम्हें नयी चादर की जरूरत होगी,
तब तक तुम उसके योग्य नहीं रह पाओगे।

❖❖❖

सहमी खड़ी है, घास

- डॉ. नीलम जैन

लाज के अहसास से
बोझिल हुई है, घास,
कहते हैं, सावन आ गया।

ओस की चादर लपेटे
औंधी पड़ी है, घास,
कहते हैं, सावन आ गया।

सुरमई उजालों की
किरने तन में समेटे,
फिर भी उदास,
सिमटी पड़ी है, घास।
कहते हैं, सावन आ गया।

कहीं किसी रोलर से
कुचली गई है, घास,
कहीं किसी खुरपी से
उखाड़ फेंकी है, घास,
जब भी मैंने देखा है,
रोती मिली है, घास।
कहते हैं सावन आ गया।

❖❖❖

वन्दना

– डा. महाश्वेता चतुर्वेदी

हँस वाहिनी वीणा वादिनि।
जननि सरस्वति, अब वर दे।
गरलसिन्धु का कलुष दूर हो,
अमृतमय जीवन कर दे।
तू प्रतीकमय, प्रेरक प्रतिपल,
रही वाग्देवी निस्सीम।
अन्तर जग शासित हो तुझसे,
तुझको समझ न पाये सीम।
पथ की भीषण बाधाओं को,
हँस–हँस सहना सिखला दे,
हो प्रशस्त पथ मेरा अविचल,
शक्ति स्रोत वह दिखला दे।
लक्ष्योन्मुख बढ़ती जाऊँ मैं,
कभी विराम नहीं आये।
कूलहीन सागर को पाकर,
उर में बस तुझको लाये।
अम्भृण सुता वाग्देवी तू,
अगम रहस्यमयी विविधा।
ज्ञानवारि का सिंचन करके,
अन्धकार सारा हर दे।
एक भाग का अधिकारी बस,
शेष तीन को कब समझा।
जिसका हूँ अधिकारी उससे,
कुसुमित यह उपवन कर दे।

❖❖❖

सत्य-प्रेम

- डा. ऋचा शर्मा

प्रेम के आराध्य वो, जिसने बजाई बाँसुरी,
खिल उठी जिसको कि सुन, बंधक भ्रमर की पाँखुरी।
शेष दर्शन बस यही क्या, बाँध कर उसको रखो,
खुद ही बँध जा, आयेगा, बीतेगी जब विभावरी।

प्रेम का सागर हिलोरे मारता दिन–रात है,
कानों में रस भर घोलती, उसकी ही तो हर बात है।
डूब जाता भाव सागर में, हमारा मन तभी,
जब सुना मन प्राण ने, आया कोई जग त्यागरी।

पर प्यार देता शक्ति है, न डर न आशंका कभी,
उससे ही तो मन में सदा, गति ऊर्जा अपनी गही।
डरा गया जो मन तेरा वो, प्यार या कुछ और था,
मन विकल बस राह ढूँढ़े, पाए जहाँ वो आसरी।

न राष्ट्र न समाज का, कर्तव्य छोड़ा कोई था,
प्यार सबसे था किया, पर न किसी का मोही था।
न शत्रु को, न मित्र को, बिन प्यार के छोड़ा कभी,
पर छोड़ दी थी बाँसुरी, जब छोड़ी राधा बावरी।

❖❖❖

नेह बँधाये राखी

- उमा श्री

जगा रही हैं तुम्हें जवानों,बारूदी फुफकारें,
हारी अमन चैन के आगे, पाँचों नदी पुकारें।
फसल सुहागिन करे भाँगड़ा,
नेह बंधाये राखी,
कितने घर में मनी इस बरस,
प्रियतम बिन बैशाखी ।
धर्मान्धता नहीं टिक सकती जब,
अन्तरप्रीत पुकारे....
अभी मरा नहीं आतंकवादियों,
जग की आँखों का आब,
यहाँ नहीं टिक सकता भाई,
नफरत का सैलाब।
यहाँ हीर–राँझा की बातें,
होती द्वारे–द्वारे.....
गुरुद्वारे में रामायण होगी,
मंदिर में अरदासें,
अखण्ड भारत का क्या कर लेंगी,
तुम्हारी कट्टर साँसें।
वह सबसे धनवान देश जो,
प्रेम से राह बुहारे.....।

❖❖❖

कलम का सिपाही

- गोविन्द कुमार 'सिह'

कलम का हूँ सिपाही मैं कलम से प्यार करता हूँ,
कलम के जोर से ही मैं बदी पे वार करता हूँ।

मेरी कुब्बत में है शामिल कि रोते को हँसा दूँ, मैं,
जमीं से आसमाँ के चाँद–तारों को मिला दूँ, मैं।
कभी हँसना, रुलाना औ कभी उत्तेजना भरना,
नहीं बहरूपिया फिर भी कई आकार धरता हूँ।
कलम का हूँ सिपाही मैं कलम से प्यार करता हूँ।

नहीं कुछ कौम की बंदिश,न सीमाओं के हैं, बन्धन,
नहीं मजहब ताबीजों में, न रोली और ना चन्दन।
नहीं फिरकापरस्ती घूमती है, मेरे आँगन में,
अमन का हूँ मुसाफिर मैं अमन स्वीकार करता हूँ।
कलम का हूँ सिपाही मैं कलम से प्यार करता हूँ।

नहीं विश्वास अस्त्रों और शस्त्रों की लड़ाई में,
सदा लड़कता रहा मैं तो जमाने की भलाई में।
नहीं हैं काम ये मेरा किसी की जिन्दगी छीनूँ,
कवी हूँ जिन्दगी का मौत से व्यापार करता हूँ।
कलम का हूँ सिपाही मैं कलम से प्यार करता हूँ।

❖❖❖

निर्जन सूना संसार मुझे

- देव शर्मा

कैसे मृदु पलकों को मूँदे, छल के आँसू की वो बूँद,
जो अन्तस् गीला कर जाये, भावों की गागर भर जायें।
पर अधर हमेशा के प्यासे, विचलित हो अकुलाती साँसें,
हो गये स्वप्न अब दूर कहीं, वो सौंप अश्रु श्रृंगार मुझे।
निर्जन सूना संसार मुझे।

न गये कथा सारे सपने, अरमां जिन पर वारे अपने,
बस व्यथा उर में हम भरकर, चल पड़े स्वयं से ही डरकर।
पग–पग जग ने उपहास किया, न साँसों ने अवकाश दिया।
यूँ थे इतना मजबूर नहीं, पर मिला यही उपहार मुझे।
निर्जन सूना संसार मुझे।

खोज मन कोमल कलियों में, अरमान भरी इन गलियों में,
इस जग का जीवन सार यहाँ, पाये केवल अंगार जहाँ।
इस पथ पर ही निशदिन चलना, जीना है जीवन को पलना,
पागल दिल को मंजूर वही, वो लगे सुमन सुकुमार मुझे।
निर्जन सूना संसार मुझे।

इनको भरकर इन बाँहों में, बस कदम बढ़ायें राहों में,
दर पर आकर इस गाँव के, चाहा दर्शन हो छाँव के।
पैरों के देखे कब छाले, जिसने दिल में सपने पाले,
दस्त दर पर भरपूर रही, पर सौंपे क्यों अंगार मुझे।
निर्जन सूना संसार मुझे।

तड़पें तट पर साँसें आकर, साँसों के घट प्यासे पाकर,
क्या कमी रही न समझ सके, जो प्रश्न खड़े न सुलझ सके।
आमाशय सरिता की कल–कल, देती आवाजें हैं हर–पल,
तट देव बने जग नूर सही, देकर हिस्से मँझधार मुझे।
निर्जन सूना संसार मुझे।।

❖❖❖

गीत

- राजेन्द्र तिवारी

सर चढ़ा आता है–
सूरज, बेहयाई और हम–
संकोच के अँधियारे में डूब पड़े हैं

धूप आवारा हुई है,
रूप के अरमान जलते हैं।
हम कबीरों से भला
क्यों आज के विद्वान जलते है।
राज–पुरुषों को पता है
पर उन्हें भी
काम की फुर्सत कहाँ है,
झाम के झगड़े बड़े हैं।

मित्रता की देह पर
कितने हुये हैं घाव दिखते हैं
द्वारका वैसी कहाँ है
समयगत बदलाव दिखाते हैं
'कृष्ण' से मिलना हुआ
मुश्किल 'सुदामा' का
अर्दली जिद पर अड़े हैं
रास्ता रोक खड़े हैं।

❖❖❖

घरवाली-बाहर वाली

- तारा चन्द्र 'तन्हा'

वे बोले
घरवाली और बाहरवाली में
क्या अन्तर है यार?
मैंने कहा–
घरवाली है विज्ञापन
बाहर वाली है
चित्रहार।।

विस्फोटक पदार्थ

अपने एक मित्र को
आते हुए देखकर
मैनें कहा क्यों.....
अकेले ही चले आये।
भाभी जी को
साथ नहीं लाये।
वे बोले–क्या बताऊँ यार
यहाँ का प्रशासन
इतना अधिक तना है।
विस्फोटक पदार्थ
साथ रखना मना है।

जेब कतरों से सावधान

बैंक के
भुगतान
काउन्टर पर
लगे हुये थे
दो स्टीकर।
लिखा हुआ था
उनपर–
"मेरा भारत महान"।
"जेब कतरों से सावधान"।

❖❖❖

साँझ ढलने का भी क्रम बदल जायगा

कमलाकान्त शरण 'पंकज'

रात भर तुम न श्रृंगार करती रहो,
यह मिलन का मुहूरत निकल जायगा।

चाँदनी के अधर चाँद की प्रीति से,
जब तरल हो गए तो लरज से गए।
मेघ के कुछ सघन झुंड शरमाए यों,
आवरण बन कहीं कुछ बरज से गए।
तुम नहा कर न कुंतल सुखाती रहो,
मेरे मन में वही रूप पल जायगा।

आस ही आस में नेत्र गीले हुए,
कामनाएँ सहज ही बिखरने लगीं।
प्राण की पीर निश्वास की नाव पर,
इस रजत चंद्रिका में बिहरने लगी।
यों न पलकें झुका कर उठाती रहो,
साँझ ढलने का भी क्रम बदल जायगा।

झिलमिलाते हुए तारकों को विदा दे के–
प्राची में प्रत्यूष छाने लगा,
छा गया है दृगों में सिंदूरी अलस,
स्वप्न को प्रीति अमरत्व छलने लगा।
रूप से तुम न दरपन सजाती रहो,
बिम्ब भी देख तुमको मचल जाएगा।

❖❖❖

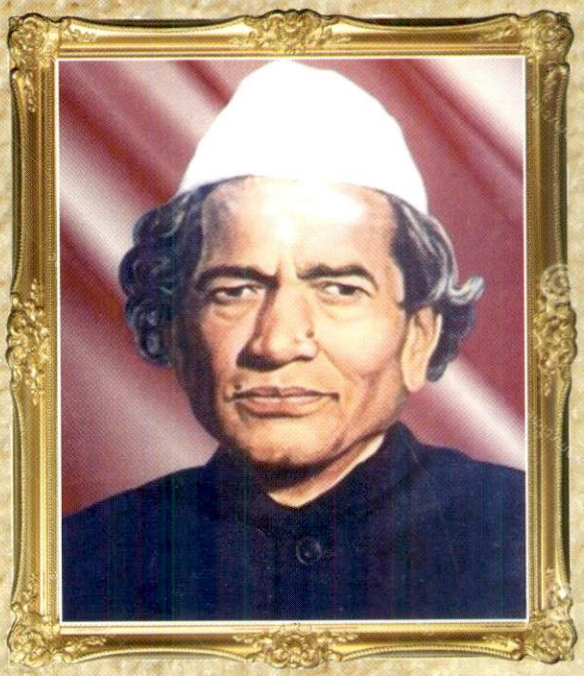

सियारामशरण गुप्त

जन्म - 4 सितम्बर 1895 निधन -29 मार्च 1963

जाता हूँ जाने दो मुझको,
हूँ मैं सरित-प्रवाह।
जाकर फिर फिर आ जाने की
मेरे मन में चाह।

बन्धु बाँध रक्खो मत मुझको,
मैं मलयानिल मुक्त।
जा कर ही फिर लौट सकूँगा,
नव-नूतन मधु युक्त।

गृह कपोत हूँ मैं, उड़ने दो
मुझको, पंख पसार,
नहीं हर सकेगा अनंत भी
मेरे घर का प्यार।

चिंता की क्या बात सखे, यदि-
हूँ मैं पूरा वर्ष,
लौट पड़ूँगा क्षण में ही मैं
ले नूतन का हर्ष।

श्यामनारायण पाण्डेय

जन्म - 1907 (श्रावण कृष्ण पंचमी संवत् 1964) निधन - 1991

पावक बन, जलता रहता जो,
मारुत बन, चलता रहता जो,
सागर बन, बहता रहता जो,
क्षिति पर सब सहता रहता जो,
वही एक रस, एक रूप है, जड़ चेतन का वही निदान।

अधर-अधर मुसकाता जो है,
कवि के स्वर में गाता जो है,
दाता जो है, त्राता जो है,
माता-पिता, विधाता जो है,
उसी देवता के चरणों पर कवि के मस्तक का अभिमान।